

किसान को मुक्त कर वॉलमार्ट का फायदा उठाएं

अमेरिका की दो दिग्गज कंपनियों की होड़ का पूरा लाभ कृषि उपज मंडियों को खत्म करने से ही मिलेगा

गुरचरण दास



वॉलमार्ट द्वारा फ्लिपकार्ट के अधिग्रहण के शोर में दुनिया की सबसे बड़े वाणिज्यिक सौदे का महत्व लगभग हर किसी से छूट गया। सुर्खियां तो एमेज़ॉन और वॉलमार्ट के बीच होने वाले संघर्ष बयां कर रही थीं। न्यूज़ चैनल बेंगलुरु के दो युवाओं की सिट्रैला कथा कहने लगे कि कैसे उन्होंने 140 हजार करोड़ रुपए की कंपनी निर्मित की और कई कर्मचारियों को करोड़पति बना दिया। अर्थशास्त्रियों ने इसमें भारत का युग आते देखा कि

चीन की तरह भारत भी अब सबसे शक्तिशाली वैश्विक सप्लाय चैन में शामिल हो जाएगा। निर्यात को बल मिलेगा, नया विदेशी निवेश व रोजगार बढ़ेगा। सौदे पर मिलने वाले कैपिटल गेन्स टैक्स को लेकर विभागों की लार टपक रही होगी।

यह सब सही है लेकिन, इसमें पूरी कहानी नहीं आती। हां, 10 मई 2018 भारतीय आर्थिक इतिहास में ऐतिहासिक मील का पत्थर है, जब दुनिया की सबसे बड़ी रिटेल कंपनी वॉलमार्ट ने भारत की सबसे बड़ी ऑनलाइन कंपनी फ्लिपकार्ट में 77 फीसदी हिस्सा खरीदने के लिए 16 अरब डॉलर देने की घोषणा की। यह उस कंपनी के लिए बहुत बड़ी रकम थी, जिसके अगले पांच साल में भी लाभ-हानि बराबर पर आने की उम्मीद नहीं थी। सौदे के बाद वॉलमार्ट के शेयर गिर गए। वॉलमार्ट को एमेज़ॉन की तुलना में जो स्पर्धात्मक बढ़त प्राप्त है उससे भारत को मिलने वाला फायदा पर्यवेक्षक देख नहीं सके : खेती का रूपांतरण, किराना दुकानों का उन्नत होना और नौकरियां।

इतने वर्षों में वॉलमार्ट ने 28 देशों में कोल्ड चेन बना ली है। इस तरह वह ताजी, उच्च गुणवत्ता वाली सब्जियां, फल और अन्य कृषि उत्पाद शहरों को डिलिवर करने के काबिल हुई है। उसने खेत पर खाद्यान्न की बर्बादी रोकी है, जो अनुमान के मुताबिक एक-तिहाई है। न तो एमेज़ॉन और न फ्लिपकार्ट में यह क्षमता है और न रिलायन्स इसे दोहरा सकी जब इसने 'रिलायन्स फ्रेश' के रूप में इस क्षेत्र में कदम रखा। पिछले दस वर्षों से वॉलमार्ट भारत में 21 बेस्ट प्राइस थोक के स्टोर चलाती रही है, जिससे वह 10 लाख से ज्यादा खेरीची विक्रेताओं को सप्लाय करती रही है। अब उसकी योजना उनमें से कई को कृषि उत्पादों को घरों में पहुंचाने की अंतिम छोर की डिलिवरी के लिए 'पार्टनर' बनाने की है। इस प्रक्रिया में वह किराना दुकानों के इन्वेंटरी मैनेजमेंट, डिजिटल पेमेंट और लॉजिस्टिक टेक्नोलॉजी के हुनर को उन्नत बनाएगी। दिग्गज कंपनियों की इस लड़ाई में सच्चा फायदा तो भारतीय कृषि और किराना दुकानों के रूपांतरण के रूप में होने वाला है।

एक प्रतिष्ठित मैनेजमेंट कंसल्टेंसी फर्म ने अनुमान लगाया है कि वॉलमार्ट-फ्लिपकार्ट की सफलता के लिए अच्छी-खासी नई पूंजी की जरूरत होगी और वॉलमार्ट ने पहले ही पांच अरब डॉलर लगाने की घोषणा की है। इससे मोटेतौर पर एक करोड़ जॉब पैदा होंगे। जॉब का यही आंकड़ा वॉलमार्ट के सीईओ ने बार-बार दोहराया। कंपनी ने जब से अपना 97 फीसदी सामान भारतीय उत्पादकों से लेना शुरू किया है और अपनी ग्लोबल सप्लाई चेन को चार से पांच अरब डॉलर का सामान बेचना शुरू किया है तो उसने पहले ही मध्यम और लघु व्यवसायों के क्षेत्र में काफी जॉब निर्मित किए हैं। अब निर्यात में यह ट्रेंड तेजी से बढ़ेगा। मेक्सिको और चीन जैसे परिपक्व बाजारों में वॉलमार्ट 95 फीसदी सामान स्थानीय बाजार से लेती है और इन देशों से अच्छी-खासी मात्रा में निर्यात करती है। इस तरह एक करोड़ नए जॉब का अनुमान वैडरों से निर्मित होने वाले परोक्ष जॉब और कोल्ड चेन लॉजिस्टिक्स, वेयरहाउसिंग और डिस्ट्रिब्यूशन में होने वाले प्रत्यक्ष जॉब पर आधारित है।

कई बार मैं सोचता हूँ कि जब किसान को आलू 4-5 रुपए किलो में बेचना पड़ता है तो मैं क्यों एक किलो आलू के लिए 20 रुपए चुकाता हूँ। मुझे अहसास हुआ कि मेरा आलू मंडी से किराना दुकान तक यात्रा करता है कि इस शृंखला में हर व्यक्ति अपना हिस्सा लेता है। इसके बाद भी 15 रुपए का फर्क बहुत ज्यादा है। विश्लेषण बताते हैं कि जिन देशों में वॉलमार्ट जैसे वैश्विक सुपर मार्केट काम करते हैं वहां यह फर्क काफी कम है, क्योंकि यहां के किसानों का सुपरमार्केट से लंबी अवधि का अनुबंध होता है। वॉलमार्ट किसान को ऊंची कीमत देकर उपभोक्ता को कम कीमत की पेशकश कर सकती है, क्योंकि इसने बिचौलियों को हटा दिया है।

सही है कि वितरण की शृंखला छोटी होने पर मंडी में आढ़तिये और थोक विक्रेता खत्म हो जाएंगे। लेकिन, मैं उन पर आंसू नहीं बहाऊंगा, क्योंकि वे मंडी में भ्रष्ट कार्टेल चलाते हैं, जो किसानों का शोषण करता है। आम किसान अपनी फसल लेता है, बैलगाड़ी पर लादता है, 20 से 50 किलोमीटर जाकर मंडी में ले जाता है, जहां उसे आमतौर पर कार्टेल द्वारा तय की गई मामूली कीमत पर बिक्री करनी पड़ती है। आढ़तिये जानते हैं कि उपज खराब हो जाएगी और किसान इसे वापस नहीं ले जा सकता। इस भ्रष्ट व्यवस्था को देखकर ही केंद्र सरकार ने कृषि उपज मंडियों (एपीएमसी) को खत्म करने वाला मॉडल रिफॉर्म एक्ट बनाया है। लेकिन, कुछ ही राज्यों (महाराष्ट्र व बिहार) ने इसे लागू किया है। वजह यह है कि भ्रष्ट एपीएमसी नेताओं को चुनाव के लिए काला धन देती हैं। इनाम पोर्टल से रोज किसानों को विभिन्न मंडियों की जानकारी दी जानी थी ताकि वे उस मंडी को बेच सकें, जो उन्हें सर्वोत्तम कीमत दे। लेकिन, कई सरकारी कार्यक्रमों की तरह यह शुरू नहीं हो सका है।

इसके विपरीत वॉलमार्ट जैसे वैश्विक रिटेलर कोल्ड स्टोरेज, वातानुकूलित ट्रक और ग्रेडिंग की सुविधाओं में निवेश करते हैं। किसानों को फूड प्रोसेसरों से जोड़ते हैं। इससे फसल लेने के बाद का नुकसान नहीं होता और किसानों की आय बढ़ती है। एपीएमसी कार्टेल की पैठ देखते हुए वॉलमार्ट के प्रवेश का लाभ कुछ ही राज्यों के किसानों को मिल पाएगा। वादे के बावजूद सरकारें कोल्ड स्टोरेज की चैन नहीं बना सकी हैं। यदि मोदी किसान की आय दोगुनी करने के प्रति गंभीर हैं तो उन्हें फैसला करना होगा कि क्या वे फोन उठाकर भाजपा शासित मुख्यमंत्रियों से कहेंगे कि वे एपीएमसी खत्म करें या वे राजनीतिक दलों को पैसा देने वाले भ्रष्ट कार्टेल को स्वीकार करेंगे। यदि वे भ्रष्टाचार खत्म करने के अपने चुनावी वादे पर कायम हैं तो उन्हें सुधार पर जोर देकर किसान को एपीएमसी राज से मुक्त करना होगा ताकि वे अपनी मर्जी से उपज किसी को भी बेच सकें। इस तरह से ही भारत दिग्गज कंपनियों की आगामी होड़ का पूरा फायदा ले सकेगा।

अच्छे मानसून में भी उदास हैं किसान

देविंदर शर्मा, कृषि विशेषज्ञ



समय से तीन दिन पहले मानसून केरल पहुंच चुका है। यह खबर खेती-किसानी के लिए ही अच्छी नहीं है, बल्कि अर्थव्यवस्था के तमाम क्षेत्रों का उत्साह व उम्मीद जगाने वाली भी है। इस साल मानसून सामान्य रहेगा। यानी यह लगातार तीसरा साल होगा, जब मानसूनी बारिश अच्छी बरसेगी। हमारी खेती करीब-करीब मानसून पर टिकी है। ऐसे में, अगर फसल अच्छी होती है, तो एक अच्छी आर्थिकी की नींव तैयार होगी। दिवंगत चतुरानन मिश्र बतौर कृषि मंत्री

संभवतः इसीलिए मानसून को 'वास्तविक कृषि मंत्री' कहते थे।

लगातार दो साल 2014 और 2015 में सूखा झेलने के बाद मानसून देश के ज्यादातर हिस्सों पर उदार रहा है। यह कृषि के लिए शुभ संकेत है, क्योंकि 60 फीसदी खेती योग्य भूमि मानसूनी बारिश पर निर्भर है। सामान्य बारिश होने से सिंचाई के इलाकों में डीजल और बिजली पर निर्भरता कम हो जाती है, जिससे किसानों की लागत घट जाती है। इसके अलावा, सामान्य मानसूनी बारिश पेयजल की भारी कमी से जूझ रहे उत्तर व मध्य भारत की सूखी जमीन के लिए भी राहत लेकर आती है। यहां 91 प्रमुख जलाशयों की जल भंडारण क्षमता बढ़ जाने से सिंचाई और पेयजल की निरंतर आपूर्ति में काफी मदद मिलती है।

यह सही है कि भारतीय मौसम विज्ञान विभाग (आईएमडी) ने 'सामान्य वर्षा' की भविष्यवाणी की है, जिसका अर्थ है कि इस बार दीर्घकालिक औसत की 97 फीसदी बारिश होगी। मगर इसमें एक पेच है। आशंका यह भी है कि इस वर्ष 44 फीसदी कम या सामान्य से कमतर बूंदें गिर सकती हैं। 'सामान्य वर्षा' की भविष्यवाणी निश्चय ही अर्थव्यवस्था को सुखद एहसास दे रही है, पर बारिश में औसत कमी का देश के बड़े हिस्से पर असर पड़ सकता है। पिछले साल भी 'सामान्य बारिश' की भविष्यवाणी की गई थी, लेकिन कम से कम 40 फीसदी जिलों में अपेक्षाकृत कम बरसात हुई। जैसे, महाराष्ट्र के सूखा प्रभावित विदर्भ और मराठवाड़ा क्षेत्रों में क्रमशः 32 और 28 फीसदी कम बूंदें बरसीं। गुजरात के सौराष्ट्र व कच्छ, बिहार के कुछ हिस्से, झारखंड, ओडिशा और पश्चिम बंगाल में भी पिछले साल कम बारिश हुई थी।

हालांकि देश के कुछ हिस्सों में कम बारिश के बाद भी 2017-18 में 27.95 करोड़ टन अनाज के रिकॉर्ड उत्पादन की उम्मीद है। इसमें चावल-उत्पादन में वृद्धि का काफी बड़ा योगदान है। इसकी खेती भी मानसूनी बारिश की तीव्रता और प्रसार पर निर्भर करती है। अनुमान है कि इस साल देश भर में 11.15 करोड़ टन चावल की पैदावार हुई है, जबकि 2016-17 में यह उपज 10.97 करोड़ टन थी। अच्छे मानसून के कारण दालों का भी रिकॉर्ड 2.45 करोड़ टन उत्पादन हुआ है। हालांकि इसके कारण किसानों की आमदनी में कमी भी आई है।

साल-दर-साल रिकॉर्ड उपज से निश्चय ही खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने और खाद्य महंगाई दर को काबू करने में मदद मिलती है, मगर त्रासदी यह है कि देश में चाहे सामान्य मानसून रहे या सूखे की स्थिति, किसानों की दशा बदस्तूर खस्ताहाल ही बनी रहती है। पिछले 20 वर्षों का ही आकलन करें, तो ज्यादातर साल सामान्य मानसून रहने के बाद भी किसानों की आमदनी लगातार कम हुई है। साफ है कि मानसून अच्छा हो या खराब, किसानों पर घिरे संकट के अंधेरे बादल नहीं छंटने जा रहे। नीति आयोग का अध्ययन भी बताता है कि 2011-12 और 2015-16 के दरम्यान किसानों की वास्तविक औसत आमदनी हर साल आधा फीसदी से भी कम यानी 0.44 प्रतिशत बढ़ी है। इन पांच वर्षों में 2014 और 2015 ही सूखे के वर्ष थे, जबकि बाकी के तीनों साल लगभग सामान्य बारिश के गवाह रहे। इसीलिए यह सवाल पूछा ही जाना चाहिए कि जब सामान्य मानसून बाकी अर्थव्यवस्था में उत्साह बढ़ाने का काम करता है, तो घोर बदहाली में जी रहे किसानों को किसी तरह की राहत देने में यह विफल क्यों रहता है?

साल 2016 और 2017 में भी अच्छे मानसून होने और रिकॉर्ड खाद्यान्न उत्पादन के बावजूद किसानों की आर्थिक दशा काफी प्रभावित हुई थी। देश के कई हिस्सों में हमने उन्हें टमाटर, आलू, प्याज और लहसून सड़कों पर मजबूरन फेंकते हुए देखा था। दाल का ही उदाहरण लें। इसकी उपज में वृद्धि होने के कारण मंडियों में किसानों के हाथों में कम पैसे आए। दालों की कीमतें औसतन 20 से 45 फीसदी गिरने का आकलन कई अध्ययनों में किया गया है। जबकि 2014 और 2015 में सूखे के दौरान भी किसानों के लिए कई फसलों का कृषि मूल्य लाभदायक रहा था। यह भ्रमित कर देने वाला तथ्य है, जो साफ-साफ सकल खाद्य कुप्रबंधन की ओर इशारा कर रहा है। दुर्भाग्य से यह कुप्रबंधन आज भी बना हुआ है।

विडंबना दूसरी यह है कि सामान्य मानसून वाले वर्ष को हमेशा आर्थिक विकास के एक सहारे से अधिक नहीं देखा जाता। एक अच्छा मानसून निश्चय ही किसानों के उस दर्द को कम करता है, जो सूखे में उन्होंने भुगता था, मगर उद्योग जगत को सामान्य मानसून से जैसी उछाल मिलती है, वैसी कृषि में कभी नहीं देखी गई है। अन्यथा मुझे कोई कारण नहीं दिखता कि देश के 17 राज्यों के कृषि परिवार की औसत आय महज 20 हजार रुपये सालाना हो। जबकि आबादी के लिहाज से ये परिवार देश की लगभग आधी जनसंख्या हैं। यह स्थिति साफ-साफ बता रही है कि नीतिगत स्तर पर हम सूखे से जूझ रहे हैं। नीतियों का यह सूखा इतना जबर्दस्त है कि अच्छा मानसून भी किसानों की आय बढ़ाने में सफल नहीं हो पा रहा। इसके लिए किसान कतई दोषी नहीं हैं। वे तो पैदावार बढ़ाने के लिए जी-जान लगा देते हैं। दरअसल, यह अक्षमता हमारे नीति-निर्माताओं की है, जो मुश्किलों में घिरे खेतिहर समुदाय के चेहरे पर हंसी लाने में अब तक नाकाम रहे हैं।

ढलान की और जाती शिक्षा

शास्त्री कोसलेंद्र दास

भारत के लगभग हर बड़े शहर में आजकल विविधतापूर्ण विषयों के महाविद्यालय और विश्वविद्यालय छा रहे हैं। औसतन हर युवा अपनी पुरानी पीढ़ी से अधिक बेहतर विकल्पों के साथ पढ़-लिख रहा है। पूरे देश में युवा उच्च शिक्षा के

लिए आतुर हैं। इंजीनियरिंग, आइटी, पत्रकारिता, मेडिकल और कला व मानविकी के छात्रों की पूरे देश में भरमार है। देहात से लेकर शहरों तक छात्रों में उच्च शिक्षित होने का उत्साह और उमंग एक महासागर की तरह है। पर प्रश्न है कि क्या इस ओर किसी सरकार या संगठन का ध्यान है? इसका जवाब 'हां' और 'ना' में नहीं हो सकता। मौजूदा दौर में सरकारों का ध्यान सिर्फ खानापूति में लगा है, जबकि राजनीतिक संगठन क्षुद्र स्वार्थों को पूरा करने के लिए उच्च शिक्षा केंद्रों से जुड़े हैं।

क्या यह शर्म की बात नहीं है कि जो छात्र थोड़ा भी योग्य है, वह यहां से पलायन कर अच्छी नौकरी की तलाश में विदेश चला जाता है। हमारी प्रतिभा खुद हमारे ही काम नहीं आ रही। ऐसे में सवाल उठना स्वाभाविक है कि कैसी तो हमारी सरकारें हैं और कैसे उनके खोखले दावे हम देख रहे हैं? एक ओर भारतीय युवा-ऊर्जा की यह दशा हो रही है, दूसरी ओर हमारे कर्णधार 'भाषण' में व्यस्त हैं! क्या यह भारत के भविष्य के लिए ठीक संदेश है? इधर, विश्वविद्यालय शिक्षकों और कर्मचारियों की कमी से जूझ रहे हैं, उधर राजनेता जाति और धर्म के वोट गिनने में लगे हैं! आरक्षण का नासूर असमानता की खाई को लगातार बढ़ा रहा है। ऐसे में क्या यह जरूरी नहीं है कि नागरिक समानता के धरातल पर आरक्षणमुक्त विश्वविद्यालय स्थापित हो ताकि छात्रों की पढ़ने में रुचि जगे।

राष्ट्र निर्माण के अनेक महत्वपूर्ण कार्य शिक्षण केंद्रों से संचालित हुए हैं। पर पिछले कुछ वर्षों से यह शिकायत आम है कि शिक्षा क्षेत्र की आशाओं और उपलब्धियों में भारी व्यवधान आया है। खासकर उच्च शिक्षा के हालात गिर रहे हैं। बौद्धिक स्तर लगभग गिर रहा है। दूसरी ओर विद्यार्थियों की अप्रत्याशित बढ़ती संख्या चिंता का विषय है। इससे निपटने के सुझाव हैं, पर वे व्यवहार में सफल होते नहीं दिखते। सरकारें इस समस्या को पाटने के लिए विश्वविद्यालय तो खोल रही हैं, पर उनमें से अधिकांश शिक्षण संस्थान राजनीति के गढ़ बनते जा रहे हैं। निस्संदेह देश में उच्च शिक्षा का व्यापक विस्तार हुआ है। फिर भी जनसंख्या की मांग को देखते हुए यह विस्तार मामूली है। साठ के दशक में उच्च शिक्षा में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या मात्र एक लाख उन्नीस हजार थी, जो 1970 में यह संख्या बढ़ कर सात लाख साठ हजार हो गई। अब यह संख्या पैंतीस करोड़ के पार है, जिसमें लड़कियों की भागीदारी सैंतालीस प्रतिशत के करीब है। परंतु यह सत्य है कि विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी है, लेकिन उस अनुपात में शिक्षा-सुविधाओं की वृद्धि नहीं हुई है। इन शिक्षा सुविधाओं के लिए आजादी के बाद उच्च शिक्षा के हालात का जायजा लेने के लिए अगस्त, 1949 में बने राधाकृष्णन आयोग को विश्वास था कि विश्वविद्यालय राष्ट्र की आकांक्षा और आशा के अनुरूप अपने को ढाल लेंगे। लेकिन राधाकृष्णन आयोग की यह उम्मीद पूरी होना अभी बाकी है।

थोड़े दिन पहले मानव संसाधन विकास मंत्रालय की स्थायी समिति ने राज्यसभा में पेश रिपोर्ट में कहा है कि केंद्रीय व राज्य विश्वविद्यालयों और आइआइटी, एनआइटी, आइआइएम जैसी प्रतिष्ठित संस्थाओं में शिक्षकों की भारी कमी है। यह समस्या उच्च शिक्षा के विकास और शिक्षा की गुणवत्ता बनाए रखने के मार्ग में बाधा है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अनुसार देश भर में पांच सौ चौवन सरकारी और दो सौ छियानवे निजी विश्वविद्यालय हैं। केंद्र सरकार के एक सौ सत्तर और राज्य सरकारों के तीन सौ चौरासी विश्वविद्यालय हैं। परंतु दूसरे समृद्ध देशों की तुलना में इन शिक्षण संस्थानों की सुविधा बहुत ही साधारण है। एक ओर शिक्षा केंद्रों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ रही है, दूसरी ओर बुनियादी सुविधाएं नहीं हैं। समिति ने जानकारी दी है कि देश के चालीस केंद्रीय विश्वविद्यालयों में प्रोफेसरों के स्वीकृत दो हजार चार सौ सत्रह पदों में एक हजार दो सौ बासठ पद खाली पड़े हैं। समिति ने चिंता जताई है कि उच्च शिक्षा की स्थिति गंभीर है और निकट भविष्य में इसमें सुधार की कोई संभावना नहीं है। पर्याप्त और योग्य शिक्षकों की उपलब्धता सुनिश्चित करना गुणवत्तापूर्ण शिक्षण के लिए जरूरी है। समिति ने सरकार को सभी विश्वविद्यालयों में प्रोफेसरों की

सेवानिवृत्ति आयु पैंसठ वर्ष किए जाने और वेतन संरचना में सुधार करने के सुझाव दिए हैं। भर्ती प्रक्रिया को पद रिक्त होने से पहले ही प्रारंभ करने को कहा है।

शताब्दियों से हम बराबर अभिमान करते आ रहे हैं कि भारत एक सभ्य देश है, जिसने दुनिया भर को ज्ञान और विज्ञान बांटा। हमारे पुरखों ने रामायण में शिक्षा के श्रेष्ठ परिणाम के उच्चादर्शों का प्रतिपादन किया। तंत्र शास्त्र के विद्वान सर जॉन उड्डफ अक्सर यही सवाल करते थे, 'क्या भारत सभ्य है?' अपनी सोच-समझ के आधार पर उन्होंने तय किया कि भारत की सभ्यता के मूल में उसकी सुव्यवस्थित शिक्षा पद्धति है। यह शिक्षा व्यवस्था मानव को उज्ज्वल दर्शन देती है, साथ ही व्यक्ति की रुचि के आधार पर उसे गुणवत्तापूर्ण जीवन प्रदान करती है।

विश्वविद्यालय ज्ञान साधना के मंदिर हैं। हालांकि अब यह धारणा शिथिल हो रही है कि विश्वविद्यालय की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य सिर्फ ज्ञान-चर्चा है। उन्हें उत्कृष्ट बनाने के लिए दो बातों पर ध्यान देना जरूरी है- पहला शोध और दूसरा प्रकाशन। उनमें शैक्षणिक संकाय की स्थिति, छात्रों की संख्या, प्रोफेसर्स की छवि और अंतरराष्ट्रीय पाठ्यक्रम की व्यवस्था पर ध्यान देना जरूरी है। शैक्षणिक गतिविधियां, छात्रों में बहस की क्षमता में बढ़ोतरी और स्तरीय शोध की रुचि उत्पन्न करने से ये संस्थाएं अंतरराष्ट्रीय छवि बना सकती हैं। केंद्र व राज्यों को चाहिए कि वे विश्वविद्यालयों में छात्रों से लिए जाने वाले शुल्क पर अनुदान दें और गुणात्मकता बनाए रखने के लिए वहां निरंतर निगरानी करें।

विश्वविद्यालयों के विकास के लिए चार बातें महत्वपूर्ण हैं। पहली यह कि विश्वविद्यालयों में शिक्षकों की चयन प्रक्रिया को सुधारा जाए। राजनीतिक प्रभाव से विश्वविद्यालयों में घुसे प्राध्यापकों को चिह्नित कर उन्हें बाहर का रास्ता दिखाना जरूरी है। इन दिनों यह सुझाव भी जोर पकड़ रहा है कि विश्वविद्यालय को जिन विषयों के शिक्षकों की आवश्यकता हो, वह उसकी सूचना विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को दे। आयोग निर्धारित समय में देशव्यापी परीक्षा आयोजित कर योग्य शिक्षकों की नियुक्ति विश्वविद्यालयों में करवाए। इससे विश्वविद्यालयों में हो रही शिक्षक भर्ती में भ्रष्टाचार पर लगाम लगेगी और योग्य शिक्षकों का चयन होगा। इसके अलावा कुलपति पद की गरिमा बनाए रखने के लिए ठोस कदम उठाने की जरूरत है। कुलपति के लिए प्रोफेसर पद के दस वर्ष के न्यूनतम अनुभव को विश्वविद्यालयों में कड़ाई से लागू होना चाहिए। प्राध्यापकों के 'एकेडमिक कार्ड' बनें, जिसमें साल भर में उनके द्वारा किए कार्यों की जानकारी विश्वविद्यालय की वेबसाइट पर हो। दूसरी बात है शोध की गुणवत्ता को बरकरार रखा जाए। पीएचडी करने के नियमों को कठोर बनाया जाए, जिससे शोधार्थी नकल करने से बचे। तीसरी बात है कि विश्वविद्यालय के शोध छात्रों को नियमित रूप से छात्रवृत्ति मिले। इससे शोधार्थी को आर्थिक चिंता न सताए।

महात्मा कबीर और रैदास के देश में यह विश्वास कौन नहीं करेगा कि गरीबी और अभाव की दुनिया में भी उत्कृष्ट ज्ञान संभव है। प्रतिभा कहीं भी हो सकती है। आर्थिक साधनों की कमी का रोना हमेशा नहीं रोया जा सकता। साधनों की कमी बाधक तत्त्व जरूर है, फिर भी वह किसी प्रतिभा को आगे बढ़ने से नहीं रोक सकती। प्रतिभा झोंपड़ियों से लेकर महलों तक सर्वत्र है। ऐसे में विश्वविद्यालयों का प्रमुख कर्तव्य प्रतिभाओं को खोजना और उन्हें प्रोत्साहन देना होना चाहिए। उन प्रतिभाओं के मार्ग में जो बाधाएं हैं, उन्हें दूर करने का संकल्प होना चाहिए।

Date: 31-05-18



A bureaucracy for our times

Recruitment to the civil service needs to be modernised. But it will require a complete overhaul of the system — not piecemeal initiatives.

Wajahat Habibullah , (The writer is a former director, LBSNAA)

The government's proposal to revise the present system of recruitment to the country's elite civil services has set the cat among the pigeons. The Niti Aayog has recommended that the government take recourse to lateral entry at all levels of the administration. It has elicited instructions from the Prime Minister's Office (PMO) to the Department of Personnel and Training (DoPT) to prepare modalities for the purpose at the level of deputy secretary, director and joint secretary.

Today, there are 4,926 IAS officers against a total authorised strength of 6,396. The government has sought to increase intake to 180 per year in the last four years. M G Devasahayam, a 1968 Haryana cadre IAS officer from Tamil Nadu, in a recent article accused the PMO of opting to abandon the constitutional scheme of things and run to the market. And what is this constitutional scheme of things?

The then home minister, Vallabbhai Patel, in light of the administrative crisis that beset India in the wake of Partition, wrote to Prime Minister Jawaharlal Nehru in April 1948 advocating the formation of an independent civil service in the functioning of which "political considerations, either in its recruitment or in its discipline and control, are reduced to the minimum, if not eliminated altogether". Though chief ministers and many members of the Constituent Assembly opposed the suggestion, the implacable Patel, in his speech to the Assembly in October 1949, declared: "The Indian Union will go. You will not have a united India if you do not have a good All India Services which has independence to speak out its advice...". Patel prevailed and the IAS was born, supposedly to be the bulwark of governance post Independence. Seventy years later, the IAS has hardly proved itself worthy of that aspiration.

Today, the nation is changing rapidly. Governance itself finds transition-accelerated, both in concept and form. From a means to perpetuate imperial rule, the objective of governance has changed to seeking and managing equitable economic growth. Yet, the bureaucratic infrastructure has remained more or less the same and grounded in the mistrust of citizens. The reasons for this mistrust can be found in the legacy of governance in India: What the Mughals set up was adapted and extended with an archaic secretariat system by the colonial administration. An elitist structure informed both systems, which continues to subsist. We have been unable to come to grips with this leviathan despite the farsighted 73rd and 74th constitutional amendments, which sought to make the panchayat an institution of self government.

The groundwork to restructure the system — its critics in the service call it "privatisation" — has gathered pace under the present government, in line with Niti Aayog member Bibek Debroy's thinking. Under the previous NDA government, regular in-service training, conceived in the 1980s by the DoPT under then MoS P Chidambaram, fructified into phases of training updates up to the level of joint secretary. These were designed by the Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration

(LBSNAA) as a measure of career advancement. Skills were encouraged to be acquired in service instead of relying on outdated expertise.

Under the present government, IAS trainees (no longer “probationers”), after completing their initial training at the LBSNAA are seconded to serve as assistant secretaries in the Union government, instead of continuing with the hallowed practice of beginning at the bottom as assistant commissioner/collector, preferably of remote districts, thus upending ground exposure. This amounts to an acknowledgment that the present-day civil service, unlike the Mughal design of the mansabdari, the principal task of which was recovery of land revenue, is essentially meant to assist in policy making and dissemination.

The latter, of course, never happened. The number of IAS officers at the joint secretary rank, the decision-making level, has declined; personnel from other services with no “grass roots” exposure have been replacing them. Today, over 30 per cent of joint secretaries in GoI are from services other than the IAS, with several IAS joint secretaries opting for repatriation to their assigned states and relatively few empanelled secretaries readily seeking deputation to the Centre. Nearly 35 per cent IAS officers due for empanelment as secretaries have been passed over, with little transparency in the process.

Now, we have the PMO proposal seeking replacement of the existing mode of recruitment to the civil service by a system in which after initial recruitment by the UPSC, allotment of service and secondment to a state will be finalised on the combined basis of UPSC results and performance in the 100-day Foundation Course at the LBSNAA.

The proposal is based on sound management principles. It is unfair to the recruiter and the recruited to fix a career on the basis of a single examination. Multiple attempts are allowed to qualify for the service. Thereafter, upon exposure to the contents of the proposed career, there is neither an opportunity to the employer nor the aspirant to determine whether this is the right job for her. Place this in the modern context, wherein a person whose calibre has been so tested will have many options before her. This is a positive step towards bringing the services in line with modern management practice. However, it will require a host of collateral reforms to succeed.

The LBSNAA, though ably led and staffed with outstanding faculty, is not equipped to make the evaluation necessary for so a large a number of recruits in the short space of a few months. The Foundation Course is designed simply to acquaint the trainees with the service to which they are assigned and with colleagues from different services. It leads to life-long bonding, bringing an esprit de corps. But it is not a testing laboratory, nor can it be in the period assigned for a service of such vital importance.

The government ought to reassess the entire structure of the civil service, instead of taking steps in fits and starts, to make public services more management-oriented and relevant to present challenges. The LBSNAA with its superb facilities would be the apposite instrument for formulating such a project. However, it would need to be restructured with training courses redesigned and faculty selected in line with the new demands.

Date: 31-05-18



The federalist principles

Deep questions of equity are raging in India and the U.S. — hyper-nationalism is blurring the debate

Varghese K. George

Debates over taxation and representation have been central to the evolution of democracy over centuries. India and America, the biggest and oldest democracies, respectively, are in the midst of a renewed debate over these subjects in recent months, the repercussions of which will be felt decades into the future.

The two cases

In the U.S., the Donald Trump administration's decision to include a question on citizenship in the 2020 Census form is being challenged by several States and cities. Unlike India, the U.S. reallocates the 435 seats in the House of Representatives after each Census. This process of reapportionment also leads to a redistribution of the 538 electoral college votes that elect the President. Besides determining how many seats each State will have in the U.S. House, the Census will also determine allocation of federal, State, and local government funds for social services, community programmes and infrastructure. Critics say seeking citizenship information will suppress the count of non-citizens, who may be legal or undocumented, in the Census, disadvantaging States and cities with more immigrants. Simultaneously, the federal tax code rolled out by the Trump administration seeks to punish States with high taxation and high welfare spend, which tend to be Democratic. In response, several Democratic states have announced measures to help residents circumvent provisions of the federal tax law.

In India, the decision to switch from the 1971 Census to the 2011 Census for the 15th Finance Commission is troubling States with low population growth, which are more or less also the States that contribute a relatively higher share per capita to the national tax kitty. After the 2031 Census, India will switch to a pan-country delimitation of parliamentary constituencies, as opposed to the current practice of redrawing constituencies without affecting the number of seats in individual States. This will result in reduced parliamentary representation for States with higher success in checking population growth, typically through better social welfare and education strategies.

Deeper questions

Underlying the many concerns expressed in terms of federalism and the regional power balance, however, are also deeper questions of citizenship, identity and marginalisation of religious, linguistic and ethnic minorities in both democracies.

America's founding fathers had made "no taxation without representation" a principle of democracy, but the correlation between taxation and representation is rather weak now. Every year, a million people come to the U.S. as legal residents and potential future citizens and start paying taxes without legislative

representation. So is the case with hundreds of thousands of guest workers. However, they get represented in an oblique manner by virtue of being counted in the Census. Some conservative groups are campaigning for redistricting and resource allocation based on the number of citizens, as opposed to residents, in a geographical area. The question remains open as a backdrop to the Trump administration's move to count citizens.

A second critical principle of democracy, "one person, one vote," was established in the U.S. through a series of judgments by the Supreme Court through the 1960s, alongside the Voting Rights Act that empowered African-Americans to exercise their franchise. Both debates were politically fraught. The American electoral map had overlooked the massive urbanisation in the country in the first half of the 20th century. Rural voters in thinly populated Congressional districts held hugely disproportionate political power compared to expanding cities, and lawmakers had no incentive to redraw the political map. Since the late 1960s, regular reapportionments have been institutionalised.

Universal franchise and the principle that everyone's vote must carry equal value were part of the Indian Constitution originally. Subsequent constitutional amendments have mandated that the distribution of parliamentary representation among various States be based on the 1971 Census, until the first Census after 2026. The effort was to avoid disadvantaging States that stabilised their populations. But the result is, for example, that around 1.7 million people can elect a member of Lok Sabha from Kerala, while in Rajasthan it takes 2.7 million people. It has long ceased to be "one person, one vote."

Political power in India will shift to northern States such as Uttar Pradesh, Rajasthan, Madhya Pradesh, Bihar, post-2031. Kerala could lose six of its current 20 Lok Sabha seats and Tamil Nadu could lose 11 of its 39. In the U.S., political power will shift, post-2020, from Snow Belt States in the Northeast and Midwest such as New York and Michigan to Sun Belt States in the South and West, such as Texas and Washington.

The impact on the political character of a region or the country as a whole due to these shifts is difficult to anticipate. But there are reasons why minorities and vulnerable groups feel unsettled. In the U.S. several Republican States have in recent years introduced measures that make minority voters less effective, diluting the "one person, one vote" principle. Many fear that the citizenship question in the Census could be a prelude to citizenship-based redistricting and resource allocation which would disempower immigrants, legal and undocumented. In India, political marginalisation of the Muslim minority is taking place not through legal manoeuvring but through social polarisation. The current Lok Sabha has 4% Muslim members against their share of 14% in the total population, an imbalance of power as problematic as the regional imbalance of power. The enthusiasm to promote Hindi demonstrated by the Narendra Modi government is hardly a reassuring prelude to discuss looming shift of political power and relative share of tax revenue from non-Hindi States to the Hindi belt.

For any country to have a national identity and purpose, the more prosperous people and regions would have to share their wealth with relatively poorer communities and regions. Taxation and redistribution are among the tools through which democratic societies seek to achieve this goal. It is not that regionalism was never a part of politics in the U.S. or India, but in recent years the competition among States has been institutionalised and the rationale of taxation and redistribution itself is being undermined by the market economy. Since 2015, Indian States are ranked for ease of doing business; in a starker demonstration of this logic, Amazon is conducting a competition among American States to decide where to house its second headquarters. States that do well by competition, often by offering sops

to investors, are then expected to concede resources to weaker States for the good of the collective, creating a tense dynamic.

The current climate of hyper-nationalism in India and America is only exacerbating tensions instead of tempering this conversation. Who are the more authentic members of the nation and who the more legitimate claimants for its resources were questions that fuelled the populist, hyper-nationalism undercurrents in India in 2014 and in the U.S. in 2016. Several policies enacted by governments in both countries since then smack of a majoritarian project. As new debates over representation and taxation open old wounds, the challenge before both democracies is to imagine a national community that is inclusive, representative and reassuring for all its minorities — religious, linguistic, ethnic and the economically marginalised.
